IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429
Volume 3, Issue 1, August 2023
Impact Factor: 7.301

Hkkjrh; Kku&ijaijk&fujarjrk ,oa ifjorZu

Mk- /khjUnz fl ag
vfLVsaV izkQslj&lekt'kkL=]
gedrh uUnu cgxq.kk jktdh; Lukrdksùkj egkfo|ky;] uwuh ç;kxjkt

Lkkjk'k

भारतीय ज्ञान–परंपरा एक अनूठी परंपरा है जो परिवर्तनशील होते हुए भी अपनी मूलभूत नाभिकीय विशेषताओं को यथावत संजोकर रखी हुई है। इसके नाभिकीय मूल्य आज भी यथावत् बने हुए हैं। जो भी परिवर्तन आए हैं, वे परिवर्तन भारतीय ज्ञान–परंपरा के परिधीय मूल्यों में आए हैं। भारतीय ज्ञान–परंपरा दो तरफा चलती है एक तरफ वह अपनी परिधि का विस्तार करती है अर्थात् समय के साथ उपयोगी मूल्यों को अपने भीतर जोड़ लेती है वहीं दूसरी तरफ वह अपनी परिधि का संक्षेपण भी करती है अर्थात् अनुपयोगी परंपराओं, रूढ़ियों को भारतीय ज्ञान–परंपरा पुरातन वस्त्रों की भांति त्याग भी देती है। भारतीय चिंतन परंपरा समय के साथ आत्मविस्तार, नवीनीकरण, परिमार्जन संक्षेपण आदि के माध्यम से समाजोपयोगी बनी रहती है।

e[; 'kCn& ifjf/k dk lidpu] vkRe foLrkj] vkºckã.k] ipe on] lIre onkx] :f<;k] :f<;k dk ifjekt.u] lkoZdkfyd /ke] dky lki{k /ke

भारतीय चिंतन परंपरा समय के साथ पुष्पित, पल्लवित एवं संवर्धित हुई है। यहाँ परंपरा एवं आधुनिकता में कोई स्पष्ट विभेद परिलक्षित नहीं होता। भारतीय ज्ञान चेतना एवं परंपरा को अतीत एवं वर्तमान में विभाजित करके देखना पश्चिमी औपनिवेशिक दृष्टिकोण था, जो काफी दिनों तक प्रभावी रहा। यह भारतीय मेधा को मानसिक तौर पर गुलाम बनाकर भारतीय परंपरा को संकुचित रूप प्रदान करता था। औपनिवेशिक दृष्टि भारतीय मेधा का, भारतीय ज्ञान–परंपरा का सम्मान करती थी, उसे गौरवपूर्ण बताती थी परन्तु उसके समाप्त होने की घोषणा करती थी।[1] इस प्रकार भारतीय ज्ञान–परंपरा को अतीत एवं वर्तमान में बांटकर यह भरतीय मेधा के आत्म तत्व को विभाजित करती थी। औपनिवेशिक शक्तियाँ यदि ऐसा नहीं करती तो वे भी शक, हूण, यवन एवं मुगलों की भांति भारत के विभाजन में सफल नहीं हो सकती थी।[2] लंबे समय तक जानबूझकर भारतीय ज्ञान–परंपरा एवं इसके सर्वाधिक प्रभावी या मुखर वक्ता के रूप में विद्यमान पाण्डित्य परंपरा की न सिर्फ उपेक्षा की गई अपितु उसे हीन कोटि का बताया गया, जबकि यह काल भारतीय ज्ञान–परंपरा के नवोन्मेष का काल था।

भारतीय ज्ञान–परंपरा में अपने आपको परिष्कृत, परिमार्जित एवं संवर्धित करने की सामर्थ्य हमेशा से विद्यमान रही है। इसी कारण यह परम्परा सहस्त्राब्दियों तक टिकी रह सकी। भारतीय ज्ञान–परंपरा अनुकूली प्रवृत्ति की रही है जिसने समय के साथ स्वयं को बदला है। भारतीय ज्ञान–परंपरा के पास अनेकों ऐसी प्रविधियां हैं जिसका उपयोग करके वह अपने मूल स्वर को बिना छोड़े, बदलते हुए समाज, काल, देश, संस्कृति एवं भाषा के अनुसार स्वयं को ढाल लेती है और स्वयं की प्रासंगिकता अक्षुण्ण रखती है। अधिकांशतः परंपराओं में होने वाले परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगत नहीं होते क्योंकि वे लोक में इतने घुल मिल जाते हैं कि उन्हें स्पष्ट निर्देशित करना अपेक्षित नहीं होता है।[3] भारतीय ज्ञान–परंपरा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके परिधीय

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 3, Issue 1, August 2023 Impact Factor: 7.301

मूल्य ही परिवर्तित हुए हैं, नामिकीय मूल्य आज भी यथावत् बने हुए हैं। इन बदलते हुए परिधीय मूल्यों को देखकर लोग घोषणा कर देते हैं कि भारतीय ज्ञान–परंपरा बदल गई है या खत्म हो गई है। जबकि यह उनकी गलत दृष्टि का परिणाम है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि परंपरा नये कलेवर ले लेती है। वस्तुतः परंपरा की अखण्डता ज्ञान के स्त्रोतों को हमेशा प्रासंगिक बनाए रखती है।

भारतीय ज्ञान–परंपरा अपनी परिधि को परिष्कृत करती रही है। परम्परा को परम्परा की संज्ञा इसीलिए दी जाती है क्योंकि वह वर्तमान के साथ संवाद बनाए रखती है अन्यथा वह रूढ़ि बन जाएगी। परम्परा अपने नाभिकीय मूल्यों को यथावत् रखते हुए परिधीय मूल्यों का अनुकूलन करती है एवं जीवन्त बनी रहती है। परंपरा यथास्थितिवादी न होकर उपयोगितावादी एवं परिवर्तन तथा परिवर्धनशील होती है। परंपरा के दो ध्रुव माने जा सकते हैं एक अतीत एवं दूसरा वर्तमान। परंपरा का जो सिरा वर्तमान में होता है वह उसी के प्राचीन रूप का समकालीन संस्करण होता है। वस्तुतः परंपरा का अतीत ही इसके वर्तमान के रूप में परिवर्तित होता है। जीवन्त परंपराओं में अपने आपको पुर्नअन्वेषित करने की क्षमता विद्यमान होती है। इस पुर्नअन्वेषण की प्रक्रिया में परंपरा स्वयं का न्यूनतम चार प्रकार से रूपान्तरण करती है–

1. कई बार परंपरा की सीमाएं पुरातन होने के कारण अपर्याप्त लगने लगती हैं जिनका वह विस्तार कर लेती है।
2. अनेकों बार परंपरा की परिधि का संकुचन करना पड़ता है।
3. कई बार परंपरा अपनी सीमाओं को पुनः परिभाषित करके उसे नवीन अर्थों या कलेवर में ग्रहण करती है।
4. कई बार परंपरा प्राचीन आचरणों को पूर्णतः त्याग भी देती है।

इन चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उपयोग करके परंपरा स्वयं में समयानुकूल परिवर्तन करती है। परंपरा शब्द की व्युत्पत्ति इसी आधार पर दी गई है कि वह अपने अनुभवों तथा आचार की श्रेणियों को प्रदान करके आधुनिकता का पोषण करती है। वह परम्परा, परम्परा नहीं हो सकती जो आने वाले समय में समाज को कुछ दे न सके अथवा उसके हितों की पूर्ति न कर सके। परंपरा अतीत की नींव पर वर्तमान का निर्माण करती है एवं नवीन परिधीय मूल्यों के आलोक में अपने अतीत वाले हिस्से को सुपरीक्षित, परिमार्जित एवं पुनः परिभाषित भी करती है। भारतीय ज्ञान–परंपरा इस प्रकार भूत एवं वर्तमान का अप्रतिम समन्वयन करती है।

भारतीय ज्ञान–परंपरा अपने नाभिकीय मूल्यों या मूल स्त्रोतों की सुरक्षा के लिए सजग रही है। यह अपने प्राचीन स्त्रोतों को इतिहास मानकर केवल संग्रहालय की भांति उन्हें संरक्षित नहीं करती अपितु बदलते परिवेश समय व समाज के परिप्रेक्ष्य में पुनः परामर्श भी करती है। भारतीय ज्ञान–परंपरा का वैशिष्ट्य यह भी है कि यह समय के साथ असंगत एवं अलोकप्रिय आचारों–विचारों का परित्याग भी कर देती है। सामान्यतः पारम्परिक आचारों के पूर्ण त्याग के स्थान पर भारतीय ज्ञान–परंपरा स्वयं को पुनः परिभाषित करती है एवं विद्यमान परिधियों के विस्तार को ही अधिक स्पृहणीय मानती है। भारतीय ज्ञान–परंपरा में अतीत वर्तमान का पोषण करता है एवं वर्तमान अतीत को आत्मसात कर उसे पुनः परिभाषित करता है। जिस प्रकार गतिशील नदी में समय–समय व विभिन्न स्थानों पर मिलने वाले अपशिष्ट विघटित होकर समाप्त हो जाते हैं एवं नदी शुद्ध बनी रहती है उसी प्रकार गतिशील परंपरा में भी अतीत की रूढ़ियां एवं आगन्तुक उपसंस्कृतियां दोनों विलीन होती रहती हैं।

भारतीय ज्ञान–परंपरा समय के साथ अपना आत्म विस्तार भी करती रही है। आत्म विस्तार के क्रम में परम्परा अपने पुराने आचार व्यवहार को पूर्ववत रखते हुए केवल उसे व्यापकता प्रदान करती है। उदाहरणस्वरूप वैदिक मंत्रों की व्याख्या विविध अर्थों में हुई है। भिन्न परिस्थितियों में एक ही मंत्र आध्यात्मिक, अधिभौतिक, ऐतिहासिक, अधिदैविक आदि अनेक अर्थों को निष्पन्न करता है।[5] अर्थों की यह विविधता परम्परा में अन्वेषित की गई है एवं इनका क्रमिक विकास काल क्रम में हुआ है।[6] स्वयं ऋग्वेद[7]

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 3, Issue 1, August 2023 Impact Factor: 7.301

तथा निरुक्त[8] में इस प्रकार के प्रखर मेधा सम्पन्न विद्वानों को ''ओहब्राह्मण'' की संज्ञा दी गई है। ओहब्राह्मण तर्क का आश्रय लेकर वेदार्थ का विचार करते थे। उदाहरणस्वरूप एक वैदिक मन्त्र को देखा जा सकता है–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मत्यां आविवेश।।

।।ऋग्वेद 4.58.3।।

इस मन्त्र में किसी देव का वर्णन है जो मरणधर्मा प्राणियों में आविष्ट हो गया है। विभिन्न विद्वानों ने इस देव को अलग–अलग अर्थों में पहचान कर इस मन्त्र की व्याख्या की है। कुमारिल के अनुसार यह महान देव सूर्य है।[9] सायण ने इसे यज्ञरूपी अग्नि का वर्णन माना है। पतंजलि के अनुसार इस मन्त्र में शब्दरूपी ब्रह्म का वर्णन है। वेदों की विविध व्याख्याएं आगे भी चलती रही। सायण, दयानन्द, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, सातवलेकर, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय इत्यादि के माध्यम से यह प्रक्रिया अर्वाचीन काल तक प्रवाहमान है। परम्परा द्वारा यथा समय स्वयं को विस्तृत करके उसे उपयोगी बनाने का यह सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार संहिता काल में जब यज्ञों का बोलबाला था उस समय यज्ञों के भौतिक स्वरूप के साथ–साथ उसके आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझा जाने लगा।[10] परम्परा का यह विस्तार अद्भुत था। याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में यह बात उठाई कि विविध भौतिक सामग्रियों से होने वाले वाह्य यज्ञ किस प्रकार होंगे यदि परिस्थितिवश उन भौतिक सामग्रियों का अभाव हो जाए? प्रत्युत्तर में कहा गया कि श्रद्धा ही पवित्र अग्नि है एवं सत्य ही घृत है। ऐसी स्थिति में यदि संसार की समस्त भौतिक हवन सामग्री नष्ट हो जाए तब भी अग्निहोत्र का लोप नहीं हो सकता।[11] इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया कि प्राण ही अग्निहोत्र है।[12] याज्ञवल्क्य जी शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र लिखते हैं कि व्रतधारी यजमान ही वास्तविक वेदी है।[13]

श्रीमद्भागवद्गीता में श्रीकृष्ण ने विविध आध्यात्मिक यज्ञों को यथा– तपयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ आदि को यज्ञ के प्रचलित अर्थ से जोड़ा है। वे द्रव्यों से किए जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को अधिक प्रशस्त मानते हैं। यह परम्परा का आत्मविस्तार ही है। ध्यातव्य है कि श्रीकृष्ण भौतिक यज्ञों को कहीं भी नकारते नहीं अपितु यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप को उसमें जोड़ते हैं जो व्यक्ति तथा समष्टि दोनों के लिए हितकारी होने के कारण भौतिक यज्ञों से श्रेष्ठ है।

भारतीय चिंतन परंपरा के शीर्ष ग्रन्थ स्वयं में ही परम्परा की परिधि के निरन्तर परिवर्तन के मूर्त उदाहरण हैं। चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार, महाभारत, रामायण से लेकर पंचतंत्र आदि ग्रन्थ निरन्तर विकासशील रहे हैं। वास्तव में भारतीय ज्ञान मीमांसा में ज्ञान एक स्थिर संप्रत्यय न होकर प्रत्येक युग में विकासमान वास्तविकता है। प्रत्येक बीतते हुए युग के साथ इसमें कुछ घटता है तो कुछ जुड़ भी जाता है। सतत् विकासशीलता भारतीय ज्ञान–परंपरा की जीवन्तता का सर्वप्रमुख लक्षण है।

कई बार परंपरा अपने हित के लिए पीछे से चले आ रहे विरोधी मतों का सामंजस्य कर प्रगतिशील निर्णय लेती है। उदाहरणस्वरूप पुत्ररहित विधवा को पति की सम्पत्ति का सम्पूर्ण भाग मिल सके, इसके लिए विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति (2. 133) की अपनी व्याख्या में अन्ततः निर्णय स्त्रियों के पक्ष में दिया है। यह प्रसंग भारतीय ज्ञान–परंपरा का एक उज्जवल अध्याय है। मध्यकाल में विदेशी आक्रांताओं विशेषकर मुस्लिमों के आतंक के कारण बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट कर दिए गए लोगों की पुनः शुद्धि के लिए बहुत सी प्रगतिशील व्यवस्थाएं दी गई हैं।

भारतीय ज्ञान–परंपरा में कई श्रेष्ठ ग्रन्थों को पंचम वेद, सप्तम वेदांग कह देना भी परंपरा के आत्मविस्तार की एक प्रविधि ही है। इस रीति से परवर्ती ग्रन्थों का महत्त्व स्थापित होने के साथ ही साथ वेदों के साथ उनकी वैचारिक सहमति भी स्थापित हो जाती है। वेदों के परवर्ती ग्रन्थों, पुराण, रामायण, महाभारत यहाँ तक कि नाट्यशास्त्रों तक को पांचवा वेद कहना इसी

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 3, Issue 1, August 2023 Impact Factor: 7.301

आत्मविस्तार की प्रवृति का परिचायक है।[14] राजशेखर ने वेद के प्रसिद्ध छह अंगों के अतिरिक्त साहित्य को सातवां अंग माना है। राजशेखर के अनुसार वेदांग की सहायता करने के कारण साहित्यशास्त्र को भी वेदांग कहा जाना चाहिए।[15] वस्तुतः समस्त भारतीय ज्ञान–परंपरा ने वेद आदि मूल ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री को अन्यान्य ग्रन्थों में विस्तार दिया। विविध शाखाओं प्रशाखाओं के रूप में विकसित यह परम्परा शताब्दियों तक मानव जाति के व्यवहार व सोचने की पद्धति के परिमार्जन हेतु बनती रही है।

भारतीय ज्ञान–परंपरा दोतरफा चलती है जहाँ एक तरफ परंपरा का आत्मविस्तार होता है वहीं दूसरी तरह ज्ञान–परंपरा की परिधि का लघुकरण या संक्षेपण की प्रक्रिया भी सतत चलायमान रहती है। जब रूढ़ियां लोकोपयोगी नहीं रह जाती तो उसमें लोक की अरूचि होने लगती है। इसे दूर करने के क्रम में ज्ञान–परंपरा अपने परिधीय मूल्यों को त्यागकर उसका संक्षेपण भी करती है। भारत में यह कार्य धर्म सुधार आंदोलनों के माध्यम से युगों से होता आ रहा है। वहीं ज्ञान–परंपरा को सुव्यवस्थित एवं सुगम बनाए रखने हेतु भी परिधीय संक्षेपण किया जाता है। इन संक्षेपणों का मुख्य उद्देश्य परम्परा को त्यागना नहीं होता अपितु उसके लाभों को न छोड़ते हुए बदलते हुए समाज, समय में आम जनमानस की सुविधा के दृष्टिगत उसका लघुकरण करना होता है। इस प्रक्रिया में धार्मिक एवं नैतिक व्यवहारों का संक्षेपण, विशाल ग्रन्थों का संक्षेपण आदि समाहित है।

भारतीय ज्ञान–परंपरा पारम्परिक कोटियों की पुनः परिभाषा तथा उनका पुर्नव्यवस्थापन भी करती है। जब परम्पराएँ रूढ़ियों में बदलने लगती हैं तब उनका परिमार्जन आवश्यक हो जाता है। लोक प्रचलित परंपराओं व रूढ़ियों का परिमार्जन उनका पूर्णतः उन्मीलन करके नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में उनके परिमार्जन की मृदुलतम विधि यह है कि उन कोटियों की पुनः परिभाषा की जाए। बड़े बड़े विचारकों ने इस दिशा में प्रयास किये हैं। उन्होंने अपनी शक्ति पूर्व स्थापित परंपराओं, मान्यताओं के उच्छेद में न लगाकर उनको पुनः परिभाषित करने व परिमार्जित करने में लगायी है। उदाहरणस्वरूप आधुनिक विमर्शों में गौतम बुद्ध को ब्राह्मण विरोधी बताया जाता है लेकिन मूल ग्रन्थों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि बुद्ध अथवा महावीर ने संस्थागत तौर पर ब्राह्मणों का विरोध नहीं किया अपितु उन्होंने उस कोटि को पुनः परिभाषित करते हुए उसके साथ स्पृहणीय सद्गुणों को जोड़ते हुए इसके साथ लगे जन्म की शर्त को हटाया।[16] धम्मपद में बुद्ध ने ब्राह्मण शब्द के साथ ऐसे सद्गुणों को जोड़ा है, जो उनके अनुसार एक भिक्षु के लिए आदर्श एवं प्रेरणादायक है। उन्होंने अनेकों बार भिक्षु को ब्राह्मण शब्द से संबोधित भी किया है।[17] बौद्ध साहित्य में कहा गया है कि शास्त्र, संस्कार, जन्म, कुल अथवा वेद के संबंध होने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता अपितु ब्राह्मण होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति ममत्व, अहंकार, आसक्ति, परिग्रह तथा रागद्वेष से मुक्त हो।[18] इसी प्रकार जैन शास्त्र भी कहते हैं कि जो कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के समान स्वच्छ किए हुए स्वर्ण की तरह विशुद्ध है, जो राग, द्वेष एवं भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[19]

ब्राह्मण की ही तरह 'यज्ञ' नामक कोटि की भी पुर्नव्याख्या करते हुए उसके द्रव्यमय स्वरूप से हटाकर आध्यात्मिक स्वरूप की चर्चा की गई है। दीघनिकाय (1.5) में कथा है कि भगवान बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ यज्ञ मण्डप में गए थे जहाँ उन्होंने कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ न्यूनतम सामग्री में महान यज्ञों का प्रतिपादन किया– (1) दानयज्ञ, (2) त्रिशरणयज्ञ, (3) शीलयज्ञ, (4) समाधि यज्ञ। सोमदेव ने कहा है कि समस्त प्राणियों के साथ मैत्री ही यज्ञ है। चार जलती हुई अग्नियों के बीच बैठकर तपते हुए सूर्य पर ध्यान लगाना एक कठिन तप रहा है जिसे पंचाग्नि साधना कहा गया है। कालान्तर में इसके आध्यात्मिक अर्थ लेने के कई उदाहरण मिलते हैं।

भारतीय ज्ञान–परंपरा की विशिष्टता रही है कि यह लुप्त होती व्यवस्थाओं से उपयोगी सामग्री ग्रहण करती है एवं उन्हें अपनी कोटियों में समाहित करती है। संस्कृत की ज्ञान–परम्परा पूर्ववर्ती शास्त्रों की व्याख्या परिवर्तित समय एवं समाज के अनुकूल कर पाने के लिए विविध शास्त्रीय प्रविधियों का उपयोग करती है। परंपरा की पुनः परिभाषा एवं पुर्नव्याख्या करने में

IJARSCT
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
ISSN: 2581-9429 Volume 3, Issue 1, August 2023 Impact Factor: 7.301

व्युत्पत्ति शास्त्र प्रमुख प्रविधि के रूप में सहायक रहा है। व्याकरणगत व्युत्पत्तियों का भारतीय ज्ञान–परंपरा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारतीय ज्ञान–परंपरा में धर्म का महत्त्व सर्वोपरि रहा है लेकिन यह भी परिवर्तनीय रहा है। सार्वकालिक तथा कालसापेक्ष धर्म का विभेदीकरण बताता था कि धर्म का सार्वकालिक स्वरूप किसी भी देश या काल में परिवर्तित नहीं होता, इसलिए सदैव आचरणीय होता है जबकि कालसापेक्ष धर्म का पालन किसी काल विशेष में किया जाता है। दूसरे शब्दों में सार्वकालिक धर्म भारतीय ज्ञान–परंपरा का नाभिकीय मूल्य है जबकि कालसापेक्ष धर्म परिधीय मूल्य।

इस प्रकार भारतीय ज्ञान–परंपरा में प्राचीन काल से ही विविध धर्मों, मंत्रों, विचारधाराओं का परस्पर आत्मिक भाव से सहअस्तित्व रहा है। यह मनुष्य तथा अन्याय प्राणियों के बीच तात्विक समानता को स्वीकृत करते हुए भी मनुष्य को असीम संभावनाओं से युक्त मानती है। ज्ञान–परंपरा अपनी परिधि का विस्तार, स्वतः नवीनीकरण, आत्मविस्तार, परिधि का संक्षेपण, धार्मिक एवं नैतिक व्यवहारों का संक्षेपण, प्राचीन ग्रन्थों का संक्षेपण, पारम्परिक कोटियों की पुनः परिभाषा, परिमार्जन आदि के द्वारा अपने आपको परिष्कृत करती है एवं समाज के लिए सदैव उपयोगी एवं प्रेरक बनी रहती है।

InHk Iph

1. निर्मल वर्मा (1981, 35) उद्धृत शर्मा (2018, 59)
2. उद्धृत शर्मा (2018, 59)
3. आचण्डालं मनुष्याणाम् अल्पं शास्त्रप्रयोजनम्। वाक्यपदीय 1.40
4. नदी वेगेन शुद्धयति–वशिष्ठस्मृति 3.54, अंगिरस 42
5. यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। (निरुक्त 1.20)
6. यास्क
7. अत्राह त्वं विजहुर्वेधाभिरोह ब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे। (ऋग्वेद 10.71.8)
8. निरुक्त (13.12)
9. तन्त्रवार्तिक (1/2/46)
10. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः। (मुण्डकोपनिषद् 1.2.7)
11. तेज एव श्रद्धा सत्यमाज्यम् (11.3.1.,1)
12. यो जागार भुवनेषु ..... प्राण एवाग्निहोत्रमिति (11.3.1.8)
13. ऋत्विजो हैव देवयजनम् (3.1.1.4–5)
14. महाभारत पर वेदत्व का अतिदेश, भागवतम् (1.4.20), सुभाषित, (कूर्मपुराण अध्याय–49)
15. काव्यमीमांसा 2 पृ0 12
16. न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो। कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो।। (सुन्तनिपात 31.27, उत्तराध्ययन सूत्र 25.33)
17. धम्मपद, ब्राह्मण वग्ग 384
18. धम्मपद, ब्राह्मणवर्ग (26), गाथा संख्या 383 से 423 तक।
19. जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
20. रागद्वोसभयाईवं तं वयं बूम माहणं। (उत्तराध्ययन सूत्र 25.21)